अर्हत् प्रवचन



सम्पादक

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ



प्रकाशक

आत्मोदय , जयपुर

प्रकाशक
आत्मोदय ग्रंथमाला
जैन संस्कृत कालेज
मणिहारों का रास्ता, जयपुर

प्रथम संस्करण
सितम्बर १९६२

मूल्य ३.५० न.पै.

मुद्रक
अजन्ता प्रिन्टर्स
जयपुर

मुख पत्र

जम्मणमरणजलोघं दुक्खयरकिलेससोगवीचीयं ।
इय संसार-समुद्दं तरंति चदुरंगणावाए ॥

यह संसार समुद्र जन्म मरण रूप जल प्रवाह वाला, दुःख क्लेश और शोक रूप तरंगों वाला है। इसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप रूप चतुरंग नाव से मुमुक्षुजन पार करते हैं।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव ।
चउरो चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र तथा सम्यक्तप ये चारों आत्मा में ही हैं इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है।

विषय-सूची

उपोद्घात

प्रस्तुत ग्रन्थ एक संकलनात्मक रचना है। इस में आचार्य कुंदकुंद, स्वामी बट्टकेर, स्वामी कार्त्तिकेय तथा आचारांग आदि आगम साहित्य एव कुछ अन्य आचार्यों के सूक्तों का सग्रह है। ये सभी सूक्त प्राकृत भाषा में हैं। ये सूक्त भगवान महावीर की परम्परा से आये हुए हैं; इसी लिए इस संग्रह का नाम अर्हत्-प्रवचन है। इन सूक्तों को हम जीवनसूत्र भी कह सकते हैं। इन से मनुष्य को सचमुच बड़ी प्रेरणा मिलती है। ये दैनिक स्वाध्याय के लिए बड़े उपयोगी हैं। इनके संग्रह को हम किसी भी नागरिक की आचार संहिता कह सकते हैं। जीवन निर्माण में इसका अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है। यह एक ऐसी तत्त्व मीमांसा है जो सभी सम्प्रदायों को स्वीकार्य है। इन सूक्तों में धर्म के उन मूलतत्त्वों का वर्णन है जो मनुष्य के व्यावहारिक एव आध्यात्मिक जीवन का दिशानिर्देश करते हैं। जिनमें न आग्रह है और न विग्रह। इनके अध्ययन से पता चलता है कि इनमें निवृत्ति में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निवृत्ति का समर्थन है। मनुष्य का जीवन जब तक प्रवृत्ति निवृत्ति मय न हो तब तक सफल नहीं कहा जा सकता। हिंसा की निवृत्ति के साथ अहिंसा की प्रवृत्ति आवश्यक है, नहीं तो मनुष्य दया, करुणा आदि प्रवृत्तियों की ओर कैसे आकृष्ट हो सकता है। दया में देने की प्रेरणा और करुणा में करने की प्रेरणा छिपी रहती है और इस प्रकार की प्रेरणाएं तो प्रवृत्तिमय ही होती हैं। अगर ऐसा न हो तो दया, करुणा आदि का पाखंड ही कहलावेगा। असत्य के परित्याग का अर्थ है सत्य में प्रवृत्ति। इसी तरह हरएक जगह मनुष्य को निवृत्ति में प्रवृत्ति का समन्वय देखने की जरूरत है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक मनुष्य के चारों ही पुरुषार्थ प्रवृत्ति-निवृत्त्यात्मक हैं। इन सूक्तों में न एकांत प्रवृत्ति का समर्थन है और न एकान्त निवृत्ति का; क्यों कि इन दोनों का ही एकांत एक आग्रह है जो अवश्य ही विग्रह को पैदा करता है। मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए इन सूक्तों का बहुत बड़ा महत्त्व है और इसी लिए यह संग्रह एक आवश्यक कदम है।

यह सग्रह १६ अध्यायों में विभक्त किया गया है। उन अध्यायों के नाम हैं:—१मंगल २ जीव अथवा आत्मा ३ कर्म ४ गुणस्थान ५ सम्यग्दर्शन ६ भाव ७ मन-इन्द्रिय ८ श्रावक ६ आत्म प्रशंसा पर निन्दा

१० शील संगति ११ भक्ति १२ धर्म १३ वैराग्य १४ श्रमण १५ तप १६ शुद्धोपयोगी आत्मा १७ प्रशस्त मरण १८ अजीव अथवा अनात्मा और १९ विविध।

इन सभी अध्यायों का यह क्रम मनोवैज्ञानिक है। पंच परमेष्टियों का हम पर महान उपकार है, उसे प्रकट करने एवं मनः शुद्धि के लिए सर्व प्रथम उन्हें प्रणाम किया गया है। यही मंगल कहलाता है और इसी अध्याय से इस संग्रह का प्रारंभ होता है।

जीव अथवा आत्मा ही सारे जगत में प्रधान है। यही सारे प्रयोजनों का आधार है। इसकी यह महत्ता इसके ज्ञानात्मक होने के कारण है। जगत में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो आत्मा से अधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हो; इसलिए मंगल के बाद 'जीव अथवा आत्मा' नामक दूसरा अध्याय है।

आत्मा के अनादिकाल से कर्म लगे हुए हैं। संसार में इस की कोई ऐसी अवस्था नहीं होती जो कर्मकृत न हो। आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध सभी परिणतियों को समझने के लिए कर्म को जानना बहुत जरूरी है इस लिए 'जीव अथवा आत्मा' नामक अध्याय के बाद 'कर्म' नामक अध्याय आता है।

आत्म विकास का क्रम गुणस्थान कहलाता है। कर्मों के जान लेने के बाद ही ठीक रूप से गुणस्थान जाने जा सकते हैं; क्यों कि कर्मों का फल देना, उनका दबना और नष्ट होना आदि अवस्थाओं से उत्पन्न होने वाले भाव ही गुणस्थान कहलाते हैं इस लिए 'कर्म' नामक अध्याय के बाद आत्म विकास स्वरूप 'गुणस्थान' नामक अध्याय का क्रम है।

सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा मिथ्यात्व नामक पहले गुणस्थान के आगे किंचित् भी नहीं बढ़ सकता इसलिए गुणस्थानों का स्वरूप समझने के अवसर पर सम्यग्दर्शन का परिचय पाने की उत्कंठा होती है और यही कारण है कि गुणस्थान नामक अध्याय के बाद 'सम्यग्दर्शन' नामक अध्याय आता है।

सम्यग्दर्शन आत्मा का सर्वोत्कृष्ट भाव है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी उसके उत्कृष्ट भाव हैं। सम्यग्दर्शन के साथ आत्मा का भावात्मक सम्बन्ध है अतः आत्मा के भावों का-शुद्ध भावों का-जानना बहुत जरूरी है; इसीलिए सम्यग्दर्शन नामक अध्याय के बाद 'भाव' नामक अध्याय की संगति है।

आत्मा के शुद्ध भावों को उत्पन्न करने के लिए मन, इन्द्रिय और कषायों पर विजय पाने की जरूरत है। इनकी विजय और शुद्धभावों का

कार्यकारण सम्बन्ध है इसलिए 'भाव' अध्याय के बाद 'मन-इन्द्रिय-कषाय विजय' नामक अध्याय का क्रम है।

इतनी श्रेणियां पार कर लेने के अनंतर ही मनुष्य श्रावक हो सकता है। श्रावकत्व के विकास के लिए इन सब की अनिवार्य आवश्यकता है अतः इनके बाद ही 'श्रावक' अध्याय की संगति बैठती है।

श्रावक का कर्तव्य है कि वह श्रमण जीवन की तैयारी करे और इसके लिए आवश्यक है कि वह आत्म-प्रशंसा और पर-निंदा करना छोड़ दे। श्रावक और श्रमण दोनों को ही अपनी मर्यादा में रहने के लिए ऐसी प्रवृत्तियों से दूर रहना चाहिए। श्रावक को शील, सत्संगति और भक्ति का महत्त्व समझना चाहिए तभी उसके जीवन में धर्म उतर सकता है और अशुचि, अनात्मक, दुःखमय तथा अनित्य संसार से वैराग्य पैदा हो सकता है। यहां वैराग्य का अर्थ बुराइयों से विरक्ति है, दुनियां से भागना नहीं है। जगत की यथार्थ स्थिति समझ कर उसमें आसक्त न होना ही वैराग्य है। आचार्य उमास्वामी ने संवेग और वैराग्य के लिए जगत और काय स्वभाव के चिंतन पर जोर दिया है। जैसा कि पहले कहा है वैराग्य कोई एकान्त निवृत्ति नहीं है; वह तो जीवन के प्रवृत्ति–निवृत्तिमय दो पहलुओं में से केवल एक है। दोनों के मिलने पर मानव जीवन का निर्माण होता है इसलिए उसके प्रति अनास्था का भाव उत्पन्न करने की जरूरत नहीं है।

'श्रावक' अध्याय के बाद 'आत्मप्रशंसा-परनिन्दा', 'शील-संगति', 'भक्ति', 'धर्म' और 'वैराग्य' नामक अध्यायों की कड़ियां एक दूसरे से शृंखला की कड़ियों की तरह मिली हुई हैं और इसीलिए इनका क्रम एक दूसरे के बाद रक्खा गया है।

इसके पश्चात् 'श्रमण' अध्याय का क्रम आता है। इसके पहले के १३ अध्यायों में श्रमणत्व के योग्य बनने के व्यवस्थित अभ्यास हैं। इन अभ्यासों में कोई परेशानी नहीं होती। ये सहज रूप से स्वयं ही हो जाते हैं। इन के बाद श्रमणत्व की साधना चलती है। आत्मत्व की प्राप्ति के लिए जो लोग आध्यात्मिक श्रम करते हैं वे श्रमण कहलाते हैं। श्रमण के लिए तप और अपने उपयोग को शुद्ध बनाये रखने की अनिवार्य आवश्यकता है; इसलिए इस अध्याय के अनंतर क्रमशः 'तप' और 'शुद्धोपयोगी आत्मा' नामक अध्याय हैं।

'मरण' जीवन की एक अनिवार्य घटना है फिर भी मनुष्य उससे घबड़ाता है। श्रावक या श्रमण दोनों की साधना तभी सफल हो सकती है जब वे निर्भय होकर मौत का स्वागत करें। मृत्यु को अनातंकित होकर झेलना श्रमण जीवन की सबसे बड़ी सफलता है; अतः इन दोनों अध्यायों के बाद 'प्रशस्तमरण' नामक अध्याय आता है।

इन १७ अध्यायों में आत्मा और आत्मा से सम्बन्धित विषयों का वर्णन है; किन्तु आत्मा के अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ हैं उनका ज्ञान होना भी जरूरी है इसलिए प्रशस्त-मरण के अनतर 'अजीव अथवा अनात्मा' नामक अध्याय आता है।

और सब के अन्त में विविध विषयों की गाथाओं का संकलन करने वाला 'विविध' नामक अध्याय है। यही इस संग्रह के अध्यायों की संगति का क्रम है।

अब इन अध्यायों के विषय में क्रमशः कुछ ज्ञातव्य तत्वों का विवेचन किया जाता है।

मंगल

जैन शास्त्रों में मगल शब्द के दो अर्थ हैं। म (पाप) को गालने वाला और मंग (सुख) को लाने वाला। परमात्मा एवं महात्माओं को प्रणाम करने से मनुष्य के पाप गल जाते हैं और उसके फल स्वरूप उसे सुख की प्राप्ति होती है। मनोयोग पूर्वक प्रणाम करने से जो आत्मा में विशुद्धि उत्पन्न होती है उसी के क्रमशः ये दोनों फल हैं। जैन शास्त्रों में जिन पांच परमेष्ठियों का वर्णन है उन में अरहंत और सिद्ध ये दोनों परमात्मा एव आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये तीनों महात्मा हैं। इस मंगल के अपराजित मंत्र में अरहंतों को पहले और सिद्धों को उन के बाद प्रणाम किया गया है। यों यह क्रम असगत जान पड़ता है; पर वास्तव में ऐसा नहीं है। अरहत सिद्ध की तरह पूर्ण मुक्तात्मा नहीं होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति का कारण है। उसी के द्वारा धर्मचक्र का प्रवर्त्तन होता है। सिद्ध तो शरीर-रहित आत्मा को कहते हैं। उसके द्वारा तीर्थ का प्रणयन नहीं हो सकता। उसके लिए शरीर चाहिए। यह जगत उद्धार का पुनीत कार्य अरहंत (तीर्थंकर) के द्वारा ही हो सकता है; इस दृष्टि से अरहत (जीवन्मुक्त आत्मा-तीर्थंकर) शरीर मुक्त सिद्धों की अपेक्षा अधिक उपकारी है और इसी उपकार के कारण उन्हें सर्व प्रथम प्रणाम किया गया है।

यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि परमात्मा, भक्त का न स्वयं दुख दूर करते हैं और न उसे सुख देते हैं। किसी का इष्ट अथवा अनिष्ट करना रागद्वेष के बिना नहीं हो सकता और परमात्मा में इन दोनों का अभाव है। इन दोनों के सर्वथा अभाव हुए बिना कोई परमात्मा नहीं बन सकता; फिर भी यह सही है कि परमात्मा की भक्ति से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से दुख का विनाश और सुख की प्राप्ति होती है। भक्त का स्वय कुछ नहीं करने पर भी वह उस के दुख विनाश

और सुख का निमित्त कारण अवश्य है। महाभारत के मिट्टी के द्रोणाचार्य से पढ़ कर एकलव्य धनुर्विद्या का ऐसा अद्वितीय विद्वान बन गया जिसकी समानता न साक्षात् द्रोणाचार्य का प्रधान शिष्य अर्जुन कर सकता था और न अन्य कोई धनुर्धारी। किन्तु यह इतना बडा काम द्रोणाचार्य का न था, पर उसमें द्रोणाचार्य निमित्त कारण जरूर थे। किसी सुन्दर स्त्री या सुन्दर स्त्री की तस्वीर देख कर किसी के मन में विकार उत्पन्न हो तो इसका अर्थ यह नहीं है कि यह विकार उसने उत्पन्न किया है, पर वह उस में निमित्त कारण जरूर है। छात्रों की अग्नि मुझे पढ़ा रही है यहां अग्नि असहाय छात्र के पढ़ाने में निमित्त तो है पर कर्त्ता नहीं है। इसी तरह परमात्मा प्रशस्त भावों के बनने में कारण है वह उनका उत्पत्ति कर्त्ता नही है।

जैन दर्शन सांख्य दर्शन की तरह ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता- उस ईश्वर की-जो जगत का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता माना जाता है; फिर भी जैन वाङ्मय में ईश्वर शब्द का प्रयोग हुआ है और उसका अर्थ है विकार के कारण सारे बंधनों से रहित परमात्मा। उस परमात्मा एवं उसी तरह परमात्मा बनने के लिए निरंतर उद्यमशील रहने वाले महात्माओं को प्रणाम करने एवं उनकी भक्ति से आत्मा के भावों में निर्मलता आती है और उसी निर्मलता से पापों का नाश और आत्मशांति प्राप्त होती है, यही जैन शास्त्रों में मंगल का प्रयोजन है।

जीव अथवा आत्मा

जीव अथवा आत्मा एक अत्यन्त परोक्ष पदार्थ है। संसार के सभी दार्शनिकों ने इसे तर्क से सिद्ध करने की चेष्टा की है। स्वर्ग, नरक, मुक्ति आदि अति परोक्ष पदार्थों का मानना भी आत्मा के अस्तित्व पर ही आधारित है। आत्मा न हो तो इन पदार्थों के मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। यही कारण है कि जीवके स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध करने वाला चार्वाक इन पदार्थों के अस्तित्व को कतई स्वीकार नहीं करता। आत्मा का निषेध सारे ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड के निषेध का एक अभ्रांत प्रमाण पत्र है। पार-लौकिक जीवन से निरपेक्ष लौकिक जीवन को समुन्नत और सुखकर बनाने के लिए भी यद्यपि ज्ञानाचार और क्रियाचार की जरूरत तो है और इसे किसी न किसी रूप में चार्वाक भी स्वीकार करता है तो भी परलोकाश्रित क्रियाओं का आत्माआदि पदार्थों का अस्तित्व नहीं मानने वालों के मत में कोई मूल्य नही है।

जैन दर्शन एक आस्तिक दर्शन है। वह आत्मा और इससे सम्बन्धित स्वर्ग नरक और मुक्ति आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है आत्मा के

सम्बन्ध में उसके समन्वयात्मक विचार हैं। वह अनेकान्तवादी दर्शन होने के कारण आत्मा को भी विभिन्न दृष्टिकोणों से देखता है। उसके विभिन्न धर्मों और स्वभावों की ओर जब उसका ध्यान जाता है तब उसके (आत्मा के) नाना रूप उसके सामने आते हैं और वह उन्हीं रूपों अथवा गुणधर्मों एवं स्वभावों को विभिन्न अपेक्षा मानकर आत्मा की दार्शनिक विवेचना करता है। यह विवेचना आत्मा के सारे रूप उसके सामने ला देती है। और इस प्रकार उसके वर्णन को सर्वाङ्गीण विवेचन कहा जा सकता है।

आत्मा का वर्णन करने के लिए जैन-दर्शन ये नौ विशेषतायें बतलाता है :—

१ वह जीव है, २ उपयोगमय है, ३ अमूर्त्त है, ४ कर्त्ता है, ५ स्वदेह परिमाण है, ६ भोक्ता है, ७ संसारस्थ है, ८ सिद्ध है और ९ स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

पहले हमने कहा है कि चार्वाक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता, उसीको लक्ष्य करके 'जीव' नामका पहला विशेषण है। जीव सदा जीता रहता है, वह अमर है, कभी नहीं मरता। उसका वास्तविक प्राण चेतना है जो उसकी तरह ही अनादि और अनन्त है। उसके कुछ व्यावहारिक प्राण भी होते हैं जो विभिन्न योनियों के अनुसार बदलते रहते हैं। इन प्राणों की संख्या दस है, पांच ज्ञानेन्द्रियां, मनोबल, वचनबल और कायबल यह तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु। यह दस प्राण मनुष्य, पशुपक्षी देव और नारकियों के होते हैं। इनके अतिरिक्त भी दुनियां में अनन्तानन्त जीव होते हैं। जैसे वृक्ष लता आदि, लट आदि, चीटी आदि, भ्रमर आदि और गोहरा आदि। इन जीवों के क्रमशः चार, छह, सात, आठ और नौ प्राण होते हैं। आत्मा नाना योनियों में विभिन्न शरीरों को प्राप्त करता हुआ कर्मानुसार अपने व्यावहारिक प्राणों को बदलता रहता है, किन्तु चेतना की दृष्टि से न वह मरता है और न जन्मधारण करता है। शरीर की अपेक्षा वह भौतिक होने पर भी आत्मा की अपेक्षा वह अभौतिक है। जीव की व्यवहारनय और निश्चयनय की अपेक्षा कथंचित् भौतिकता और कथंचित् अभौतिकता मानकर जैनदर्शन इस विशेषण के द्वारा चार्वाक आदि के साथ समन्वय करने की क्षमता रखता है। यही उसके स्याद्वाद की विशेषता है।

आत्मा का दूसरा विशेषण उपयोगमय है

आत्मा उपयोगमय है, अर्थात् ज्ञानदर्शनात्मक है। यह विशेषण नैयायिक एवं वैशेषिक दर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है। यह दोनों दर्शन आत्मा को ज्ञान का आधार मानते हैं जैनदर्शन भी आत्मा को आधार और

ज्ञान को उसका आधेय मानता है। आत्मा गुणी और ज्ञान उसका गुण है। गुण गुणी में आधार आधेय भाव होता है। जब अखण्ड आत्मा में उसके गुणों की दृष्टि से भेद कल्पना की जाती है तब आत्मा को ज्ञानाधिकरण माना जाना युक्ति सगत है, यह मानना कथंचित् है। और एक दूसरी दृष्टि भी है जिससे आत्मा को ज्ञानाधिकरण नहीं, किन्तु ज्ञानात्मक मानना ही अधिक युक्ति संगत है। प्रश्न यह है कि क्या आत्मा को कभी ज्ञान से अलग किया जा सकता है? आत्मा और ज्ञान जब किसी भी अवस्था में भिन्न नहीं हो सकते तब उसे ज्ञान का आश्रय मानने का आधार क्या है? इस दृष्टि से तो आत्मा ज्ञान का आधार नहीं अपितु उपयोगमय अर्थात् ज्ञानदर्शनात्मक ही है।

आत्मा का तीसरा विशेषण है अमूर्त्त। यह विशेषण भट्ट और चार्वाक दोनों को लक्ष्य करके कहा गया है। ये दोनों दर्शन जीवको अमूर्त्त नहीं मूर्त्त मानते हैं; किन्तु जैनदर्शन की मान्यता है कि वास्तव में आत्मा में आठ प्रकार के स्पर्श, पांच प्रकार के रूप, पांच प्रकार के रस और दो प्रकार के गध, इन बीस प्रकार के पौद्गलिक गुणों में से एक भी गुण नहीं है; इस लिए आत्मा मूर्त्त नहीं, अपितु अमूर्त्त है। तो भी अनादिकाल से कर्मों से बंधा हुआ होने के कारण व्यवहार दृष्टि से उसे मूर्त्त भी कहा जा सकता है। इस प्रकार आत्मा को कथंचित् अमूर्त्त और कथंचित् मूर्त्त कह सकते हैं। अर्थात् शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा वह अमूर्त्त और कर्मबंध रूप पर्याय की अपेक्षा मूर्त्त है। यदि उसे सर्वथा मूर्त्त ही माना जाय तो उसके भिन्न अस्तित्व का ही लोप हो जाय तथा पुद्गल और उसमें कोई भिन्नता ही नहीं रहे। जैन दर्शन की समन्वय दृष्टि उसे दोनों मानती है, और यही तर्क सिद्ध भी है।

आत्मा का चौथा विशेषण है:—कर्त्ता। यह विशेषण उसे सांख्य दर्शन को लक्ष्य करके दिया गया है। यह दर्शन आत्मा को कर्त्ता नहीं मानता। उसे केवल भोक्ता मानता है। कर्तृत्व तो केवल प्रकृति में है, किन्तु जैनदर्शन सांख्य के इस अभिमत से सहमत नहीं है। बल्कि उसका कहना है कि आत्मा व्यवहार नय से पुद्गल कर्मों का, अशुद्ध निश्चयनय से चेतनकर्मों (राग-द्वेषादि) का और शुद्ध निश्चय नय से अपने ज्ञानदर्शनादि शुद्धभावों का कर्त्ता है। इस प्रकार वह एक दृष्टि से कर्त्ता और दूसरी दृष्टि से अकर्त्ता है। यदि आत्मा को कर्त्ता न माना जाय तो उसे भोक्ता भी कैसे माना जा सकता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का कोई विरोध नहीं है। यदि इन दोनों में विरोध माना जाय तब तो आत्मा को 'भुजि' क्रिया का कर्त्ता भी कैसे माना जा सकता है? इस प्रकार आत्मा के कर्तृत्व को न स्वीकार करने का अर्थ है उसका भोक्तृत्व भी न मानना। इसलिए यदि उसे भोक्ता मानना है तो कर्त्ता भी जरूर मानना चाहिए

आत्मा का पांचवा विशेषण है 'भोक्ता'। यह विशेषण बौद्धदर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है। यह दर्शन क्षणिकवादी होनेके कारण कर्त्ता और भोक्ता का ऐक्य मानने की स्थिति में नहीं है किन्तु यदि आत्मा को कर्मफल का भोक्ता नहीं माना जाय तो कृतप्रणाश और अकृत के अभ्यागम का प्रसंग आवेगा अर्थात् जो कर्म करेगा उसे उसका फल प्राप्त न होकर उसे प्राप्त होगा जिसने कर्म नहीं किया है और इससे बहुत बड़ी अव्यवस्था हो जायगी। इसलिए आत्मा को अपने कर्मों के फल का भोक्ता अवश्य मानना चाहिए। हां यह बात अवश्य है कि आत्मा सुखदुःख रूप पुद्गल कर्मों का भोक्ता व्यवहार दृष्टिसे है। निश्चय दृष्टिसे तो वह अपने चेतन भावोंका ही भोक्ता है, कर्मफल का भोक्ता नहीं है। इसलिए वह कथंचित् भोक्ता और कथंचित् अभोक्ता है।

आत्मा का छठा विशेषण 'स्वदेह परिमाण' है। इसका अर्थ है इस आत्मा को जितना बड़ा शरीर मिलता है उसीके अनुसार इसका परिमाण हो जाता है। यह विशेषण नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य इन चार दर्शनों को लक्ष्य करके कहा गया है। क्यों कि ये चारों ही दर्शन आत्माको व्यापक मानते हैं। यद्यपि उसका ज्ञान शरीरावच्छेदेन (शरीर में) ही होता है तो भी उसका परिमाण शरीर तक ही सीमित नहीं है वह सर्वव्यापक है। जैनदर्शन का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि आत्मा के प्रदेशों का दीपक के प्रकाश की तरह संकोच और विस्तार होता है। हाथी के शरीर में उसके प्रदेशों का विस्तार और चींटी के शरीर में संकोच हो जाता है। किन्तु यह बात समुद्घात दशा के अतिरिक्त समय की है। समुद्घात में तो उसके प्रदेश शरीर के बाहर भी फैल जाते हैं यहां तक कि वे सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि आत्मा स्वशरीर परिमाण वाला व्यवहार नय से है। निश्चय नय से तो वह लोकाकाश की तरह असख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोक के बराबर बड़ा है। यही कारण है कि वह लोक पूरण समुद्घात में सारे लोक में फैल जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन आत्मा को कथचित् व्यापक और कथंचित् अव्यापक मानता है और उक्त चारों दार्शनिकों के साथ इसका समन्वय हो जाता है।

आत्मा का सातवां विशेषण है 'संसारस्थ'। यह विशेषण 'सदा शिव' दर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है। इसका अर्थ है आत्मा कभी संसारी नहीं होता, वह हमेशा ही शुद्ध बना रहता है। कर्मों का उस पर कोई असर ही नहीं होता- कर्म उसके हैं ही नहीं इस सबध में जैनदर्शन का दृष्टिकोण यह है कि हर एक जीव ससारी होकर मुक्त होता है पहले उसका ससारी

होना जरूरी है। ससारी जीव शुक्ल ध्यान के बल से कर्मों का संवर, निर्जरा और पूर्ण क्षय करके मुक्त होता है। ससारी का अर्थ है अशुद्ध जीव। अनादिकाल से जीव अशुद्ध है और वह अपने पुरुषार्थ से शुद्ध होता है। यदि पहले जीव ससारी न हो तो उसे मुक्ति के लिए कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु जैनदर्शन का यह भी कहना है कि जीव को ससारस्थ कहना व्यवहारिक दृष्टिकोण है। शुद्ध नय से तो सभी जीव शुद्ध है। इस प्रकार जैन दर्शन जीव को एक नय से विकारी मानकर भी दूसरी नय से अविकारी मान लेता है। यह जैन दर्शन का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है।

आत्मा का आठवां विशेषण है 'सिद्ध'। इसका अर्थ है ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित। यह विशेषण भट्ट और चार्वाक को लक्ष्य करके दिया गया है। भट्ट मुक्ति को स्वीकार नहीं करता। उसके मत में आत्मा का अन्तिम आदर्श स्वर्ग है। जो मुक्ति को स्वीकार नहीं करता वह आत्मा का सिद्ध विशेषण कैसे मान सकता है? उसके मत में आत्मा सदा संसारी ही रहता है, उसकी मुक्ति कभी होती ही नहीं अर्थात मुक्ति नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। चार्वाक तो जब जीव की सत्ता ही नहीं मानता तब मुक्ति को कैसे स्वीकार कर सकता है? वह तो स्वर्ग का अस्तित्व भी स्वीकार नही करता। इसलिए भट्ट से भी वह एक कदम आगे है। पर इस सम्बन्ध में जैन दर्शन का कहना है कि आत्मा अपने कर्म बन्धन काट कर सिद्ध हो सकता है। जो यह बन्धन नहीं काट सकता वह संसारी ही बना रहता है। आत्मा का ससारी और मुक्त होना दोनों ही तर्क सिद्ध हैं। जैन दर्शन मे कुछ ऐसे जीव अवश्य माने गये हैं जो कभी सिद्ध नहीं होंगे। ऐसे जीवों को अभव्य कहते हैं। उन जीवों की अपेक्षा आत्मा के सिद्धत्व विशेषण का मेल नहीं बैठता ये ही इनके साथ समन्वय है। किन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि उन जीवों में सिद्ध बनने की शक्ति अथवा योग्यता तो है ही।

आत्मा का नौवां विशेषण है 'स्वभाव से ऊर्ध्व गमन'। यह विशेषण मांडलिक ग्रन्थकार को लक्ष्य करके कहा गया है। इसका अर्थ है आत्मा का वास्तविक स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। इस स्वभाव के विपरीत यदि उसका गमन होता है तो इसका कारण कर्म है। कर्म उसे जिधर ले जाता है उधर ही वह चला जाता है। जब वह सर्वथा कर्मरहित हो जाता है तब तो अपने वास्तविक स्वभाव के कारण ऊपर ही जाता है और लोक के अग्रभाग में जाकर ठहर जाता है। उसके आगे धर्मास्तिकाय नहीं होने के कारण वह नहीं जा सकता इस - में माण्डलिक का यह कहना है कि जीव सतत

गतिशील है, वह कहीं भी नहीं ठहरता चलता ही रहता है। जैन दर्शन उसकी इस बात को स्वीकार नही करता। वह उसे ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला मानकर भी उसे वहीं तक गमन करने वाला मानता है जहा तक धर्मद्रव्य है, यह द्रव्य गति का माध्यम है, ठीक ऐसे ही जैसे प्रकाश की गति का माध्यम ईथर और शब्द की गति का माध्यम वायु है। जहां गति का माध्यम खतम हो जाता है वहीं जीव की गति भी रुक जाती है। इस प्रकार जीव ऊर्ध्वगामी होकर भी निरन्तर ऊर्ध्वगामी नहीं है, यह जैन दर्शन की मान्यता है। आत्मा के इन नौ विशेषणों से यह अच्छी तरह जाना जा सकता है कि जैन दर्शन कहीं भी आग्रहवादी नही है उसके विचार सभी दार्शनिकों के साथ समन्वयात्मक हैं।

जैनधर्म का कर्मवाद

कर्म को समझने के लिए कर्मवाद को समझने की जरूरत है। वाद का अर्थ सिद्धान्त है। जो वाद कर्मों की उत्पत्ति, स्थिति और उनकी रस देने आदि विविध विशेषताओं का वैज्ञानिक विवेचन करता है—वह कर्मवाद है। जैन शास्त्रों में कर्मवाद का बड़ा गहन विवेचन है। कर्मों के सर्वांगीण विवेचन से जैन शास्त्रों का एक बहुत बड़ा भाग सम्बन्धित है। कर्मस्कंध-परमाणु समूह होने पर भी हमें दीखता नहीं। आत्मा, परलोक, मुक्ति आदि अन्य दार्शनिक तत्त्वों की तरह वह भी अत्यन्त परोक्ष है। उसकी कोई भी विशेषता इन्द्रिय गोचर नहीं है। कर्मों का अस्तित्व प्रधानतया आप्तप्रणीत आगम के द्वारा ही प्रतिपादित किया जाता है। जैसे आत्मा आदि पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये आगम के अतिरिक्त अनुमान का भी सहारा लिया जाता है, वैसे ही कर्मों की सिद्धि में अनुमान का आश्रय भी लिया गया है।

इस कर्मवाद को समझने के लिए सचमुच तीक्ष्णबुद्धि और अध्यवसाय की जरूरत है। जैन ग्रन्थकारों ने इसे समझने के लिए स्थान-स्थान पर गणित का उपयोग किया हैं। अवश्य ही यह गणित लौकिक गणित से बहुत भिन्न है। जहाँ लौकिक गणित की समाप्ति होती है वहां इस अलौकिक गणित का प्रारम्भ होता है। कर्मो का ऐसा सर्वांगीण वर्णन शायद ही संसार के किसी वाङ्मय में मिले। जैन शास्त्रों को ठीक समझने के लिये कर्मवाद को समझना अनिवार्य है।

कर्मों के अस्तित्व में तर्क

संसार का प्रत्येक प्राणी परतन्त्र है। यह पौद्गलिक (भौतिक) शरीर ही उसकी परतन्त्रता का द्योतक है। बहुत से अभाव और अभियोगों का वह

प्रतिक्षण शिकार बना रहता है वह अपने आपको सदा पराधीन अनुभव करता है। इस पराधीनता का कारण जैन शास्त्रों के अनुसार कर्म है। जगत में अनेक प्रकार की विषमताएं हैं। आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के अतिरिक्त जो प्राकृतिक विषमताएँ हैं उनका कारण मनुष्य कृत नहीं हो सकता। जब सब में एक सा आत्मा है तब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट और वृक्ष-लताओं आदि के विभिन्न शरीरों और उनके सुख, दुःख आदि का कारण क्या है? कारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। जो कोई इन विषमताओं का कारण है वही कर्म है—कर्म सिद्धान्त यही कहता है।

जैनों के कर्मवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। उसे जगत की विषमताओं का कारण मानना एक तर्क हीन कल्पना है। उसका अस्तित्व स्वीकार करने वाले दार्शनिक भी कर्मों की सत्ता अवश्य स्वीकार करते हैं। 'ईश्वर जगत के प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है' उनकी इस कल्पना में कर्मों की प्रधानता स्पष्टरूप से स्वीकृत है। 'सब को जीवन की सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त हों और सामाजिक दृष्टि से कोई नीच-ऊँच नहीं माना जाए'—मानव मात्र में यह व्यवस्था प्रचलित हो जाने पर भी मनुष्य की व्यक्तिगत विषमता कभी कम नहीं होगी। यह कभी सम्भव नहीं है कि मनुष्य एक से बुद्धिमान हों, एकसा उनका शरीर हो, उनके शारीरिक अवयवों और सामर्थ्य में कोई भेद न हो। कोई स्त्री, कोई पुरुष और किसी का नपुंसक होना दुनियां के किसी क्षेत्र में बन्द नहीं होगा। इन प्राकृतिक विषमताओं को न कोई शासन बदल सकता है और न कोई समाज। यह सब विविधतायें तो साम्यवाद की चरम सीमा पर पहुँचे हुए देशों में भी बनी रहेंगी। इन सब विषमताओं का कारण प्रत्येक आत्मा के साथ रहने वाला कोई विजातीय पदार्थ है और वह पदार्थ कर्म है।

कर्म आत्मा के साथ कब से हैं और कैसे उत्पन्न होते हैं?

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। जब से आत्मा है, तब से ही उसके साथ कर्म लगे हुए हैं। प्रत्येक समय पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग होते रहते हैं और आत्मा के रागद्वेषादि भावों के द्वारा नये कर्म बधते रहते हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं होती जैसे अग्नि में बीज जल जाने पर बीज वृक्ष की परम्परा समाप्त हो जाती है वैसे ही रागद्वेषादि विकृत भावों के नष्ट हो जाने पर कर्मों की परम्परा आगे नहीं चलती। कर्म अनादि होने पर भी सान्त है।

यह व्याप्ति नहीं है कि जो अनादि हो उसे अनन्त भी होना चाहिये—नहीं तो बीज और वृक्ष की परम्परा कभी समाप्त नहीं होगी।

यह पहले कहा है कि प्रतिक्षण आत्मा में नयेर कर्म आते रहते हैं। कर्मबद्ध आत्मा अपने मन, वचन और काय की क्रिया से ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप और औदारिकादि ४ शरीररूप होकर योग्य पुद्गल स्कन्धों का ग्रहण करता रहता है। आत्मा में कषाय हो तो यह पुद्गलस्कन्ध कर्मबद्ध-आत्मा के चिपट जाते हैं—ठहरे रहते हैं। कषाय(रागद्वेष) की तीव्रता और मन्दता के अनुसार आत्मा के साथ ठहरने की कालमर्यादा कर्मों का स्थिति बन्ध कहलाता है। कषाय के अनुसार ही वे फल देते हैं यही अनुभव बन्ध या अनुभाग बन्ध कहलाता है। योग कर्मों को लाते हैं, आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ते हैं। कर्मों में नाना स्वभावों को पैदा करना भी योग का ही काम है। कर्मस्कन्धों में जो परमाणुओं की संख्या होती है, उसका कम ज्यादा होना भी योग हेतुक है। ये दोनों क्रियायें क्रमशः प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध कहलाती हैं।

कर्मों के भेद और उनके कारण

कर्म के मुख्य आठ भेद हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तराय। जो कर्म ज्ञान को प्रगट न होने दे वह ज्ञानावरणीय, जो इन्द्रियों को पदार्थों से प्रभावान्वित नहीं होने दे वह दर्शनावरणीय, जो सुख दुःख का कारण उपस्थित करे अथवा जिससे सुख दुःख हो वह वेदनीय, जो आत्मरमण न होने दे वह मोहनीय, जो आत्मा को मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक के शरीर में रोक रक्खे वह आयु, जो शरीर की नाना अवस्थाओं आदि का कारण हो वह नाम, जिससे ऊँच नीच कहलावे वह गोत्र, और जो आत्मा की शक्ति आदि के प्रकट होने में विघ्न डाले वह अन्तराय कर्म है।

संसारी जीव के कौन कौन से कार्य किस किस कर्म के आस्रव के कारण हैं यह जैन शास्त्रों में विस्तार के साथ बतलाया गया है। उदाहरणार्थ-ज्ञान के प्रकार में बाधा देना, ज्ञान के साधनों को छिन्न-भिन्न करना, प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना, आवश्यक होने पर भी अपने ज्ञान को प्रगट न करना और दूसरों के ज्ञान को प्रकट न होने देना आदि अनेकों कार्य ज्ञानावरणीय कर्म के आस्रव के कारण हैं। इसी प्रकार अन्य कर्मों के आस्रव के कारणों को भी जानना चाहिये। जो कर्मास्रव से बचना चाहे वह उन कार्यों से विरक्त रहे जो किसी भी कर्म के आस्रव के कारण हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र के छट्ठे अध्याय में आस्रव के कारणों का जो विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है वह हृदयगम करने योग्य है।

कर्म आत्मा के गुण नहीं हैं

कुछ दार्शनिक कर्मों को आत्मा का गुण मानते हैं। पर जैन मान्यता इसे स्वीकार नहीं करती। अगर पुण्य पाप रूप कर्म आत्मा के गुण हों तो वे कभी उसके बन्धन के कारण नहीं हो सकते। यदि आत्मा का गुण स्वय ही उसे बांधने लगे तो कभी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। बन्धन मूल वस्तु से भिन्न होता है, बन्धन का विजातीय होना जरूरी है। यदि कर्मों को आत्मा का गुण माना जाय तो कर्म नाश होने पर आत्मा का नाश भी अवश्य भावी है; क्यों कि गुण और गुणी सर्वथा भिन्न भिन्न नहीं होते। बन्धन आत्मा की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है; किन्तु अपना ही गुण अपनी ही स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता। पुण्य और पाप नामक कर्मों को यदि आत्मा का गुण मान लिया जाय तो इनके कारण आत्मा पराधीन नहीं होगा; और यह तर्क एवं प्रतीति सिद्ध है कि ये दोनों आत्मा को परतन्त्र बनाये रखते हैं। इस लिए ये आत्मा के गुण नहीं किन्तु एक भिन्न द्रव्य है। ये भिन्न द्रव्य पुद्गल है। यह रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाला एवं जड है। जब राग-द्वेषादिक विकृतियों के द्वारा आत्मा के ज्ञानादि गुणों को घातने का सामर्थ्य जड़ पुद्गल में उत्पन्न हो जाता है तब यही कर्म कहलाने लगता है। यह सामर्थ्य दूर होने ही यही पुद्गल दूसरी पर्याय धारण कर लेता है।

कर्म आत्मा से कैसे अलग होते हैं

आत्मा और कर्मों का संयोग सम्बन्ध है। इसे ही जैन परिभाषा मे एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध कहते हैं। सयोग तो अस्थायी होता है। आत्मा के साथ कर्म संयोग भी अस्थायी है। अत. इसका विघटन अवश्यभावी है। खान से निकले हुए स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण के अतिरिक्त विजातीय वस्तु भी है। वह ही उसकी अशुद्धता का कारण है। जब तक वह अशुद्धता दूर नहीं होती उसे सुवर्णत्व प्राप्त नहीं होता। जितने अशों में वह विजातीय सयोग रहता है उतने अंशों में सोना अशुद्ध रहता है। यही हाल आत्मा का है। कर्मों की अशुद्धता को दूर करने के लिये आत्मा को बलवान प्रयत्न करने पड़ते हैं। इन्हीं प्रयत्नों का नाम तप है। तप का प्रारम्भ भीतर से होता है। बाह्य तपों को जैन शास्त्रों में कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। अभ्यन्तर तप की वृद्धि के लिये जो बाह्य तप अनिवार्य हैं वे स्वतः ही हो जाते हैं। तपों का जो अन्तिम भेद ध्यान है वही कर्मनाश का कारण है। श्रतज्ञान की

निश्चल पर्यायें ही ध्यान हैं। यह ध्यान उन्हीं को प्राप्त होता है जिनका आत्मोपयोग शुद्ध है। शुद्धोपयोग ही मुक्ति का साक्षात् कारण अथवा मुक्ति का स्वरूप है। आत्मा की पाप और पुण्यरूप प्रवृत्तियां उसे संसार की ओर खींचती हैं। जब इन प्रवृत्तियों से वह उदासीन हो जाता है तब नये कर्मों का आना रुक जाता है। इसे ही जैन शास्त्रों की परिभाषा में 'संवर" कहा गया है। संवर हो जाने पर जो पूर्व संचित कर्म हैं वे अपना रस देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं और नये कर्म आते नहीं, तब आत्मा की मुक्ति हो जाती है। एक बार कर्म बन्धन से आत्मा अलग होकर फिर कभी कर्मों से संपृक्त नहीं होता। मुक्ति का प्रारम्भ है, पर अन्त नहीं है। वह अनन्त है। मुक्ति ही आत्मा का चरम पुरुषार्थ है। इसकी प्राप्ति अभेदरत्नत्रय से होती है। जैन शास्त्रों में कर्मों के नाश होने का अर्थ है आत्मा से उनका सदा के लिए अलग हो जाना। यह तर्क सिद्ध है कि किसी पदार्थ का कभी नाश नहीं होता। उसका केवल रूपान्तर होता है। पदार्थ पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय ग्रहण कर लेता है। कर्म पुद्गल कर्मत्व पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय धारण कर लेते हैं। उनके विनाश का यही अर्थ है:

"सतो नात्यन्तसंक्षयः" (आप्त परीक्षा)

"नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः" गीता)

नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति" (स्वयंभू स्तोत्र)

आदि जैना जैन महान दार्शनिक सत् के विनाश का और असत् के उत्पाद का स्पष्ट विरोध करते हैं। जैसे साबुन आदि फेनिल पदार्थों से धोने पर कपड़े का मैल नष्ट हो जाता है अर्थात दूर हो जाता है, वैसे ही आत्मा से कर्म दूर हो जाते हैं। यही कर्मनाश कर्ममुक्ति अथवा कर्म भेदन का अर्थ है। जैसे आग में तपाने की विशिष्ट प्रक्रिया से सोने का विजातीय पदार्थ उससे पृथक हो जाता है वैसे ही तपस्या से कर्म दूर हो जाता है।

जीवन के लिए धर्म की आवश्यकता

धर्म के बिना मानव जीवन की कोई कीमत नहीं है। किन्तु अवश्य ही उस धर्म का अर्थ है नैतिकता और सदाचार। प्राण रहित शरीर की तरह उस जीवन का मूल्य नहीं है जिसमें धर्म अथवा नैतिकता नहीं रहती। अगर जीवन में धर्म का प्रकाश न हो तो वह अन्धा है और वह अपने लिये भी भार स्वरूप है एवं दूसरों के लिये भी। मनुष्य में से पशुता के निष्कासन का श्रेय धर्म को ही है धर्म ही मनुष्य में सामाजिकता लाता है किन्तु

थोथे क्रियाकांड के नाम से जिस धर्म को बहुत से लोग लिये बैठे हैं उसे धर्म मानना एक आत्मवंचना है और वह मनुष्य को कभी वास्तविकता की ओर नहीं ले जा सकता।

धर्म मनुष्य की दैवी वृत्ति है। यह वृत्ति ही उसमें दया, दान, सन्तोष, करुणा, अनुकम्पा, क्षमा, अहिंसा आदि अनेक गुणों को उत्पन्न करती है। जितने जितने अंशों में जहां जहां धर्म की प्रतिष्ठा है वहां वहां शांति सुख और वैभव का विलास देखने को मिलेगा।

धर्म की प्रशंसा में एक प्राचीन जैन महर्षि आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि—

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद् ।
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन् ॥
दृष्टा परस्पर हतिर्जनकात्मजानाम् ।
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव ॥

अर्थात्—जब तक मनुष्य के मन में धर्म रहता है तब तक वह मारने वाले को भी नहीं मारता। किन्तु देखो! जब धर्म उसके मन से निकल कर चला जाता है तब औरों की कौन कहे, पिता पुत्र को मार डालता है और पुत्र पिता को, अतः यह निश्चित है कि इस जगत की रक्षा का कारण धर्म ही है। इससे यह कहा जा सकता है कि सफल और सुव्यवस्थित जीवन बिताने के लिये धर्म अनिवार्य है।

धर्म और एकान्त बाह्याचार

यद्यपि धर्म जीवन के लिये अनिवार्य है, किन्तु उसका रूप एकांत बाह्यचार कभी नहीं है। 'आचारः प्रथमो धर्मः' अर्थात आचार ही सर्व प्रथम धर्म है। शास्त्र के इस वाक्य को लोगों ने इस तरह पकड़ा कि यथार्थ आचार इनकी पकड़ में न आया। आचार तो मनुष्य को उठाने का प्रयत्न है यह मनुष्य में न हो तो उसके जीवित रहने पर भी उसकी मानवता मर जाती है। मनुष्य वह नहीं है जो हमें दीख रहा है, वह तो केवल उसका बाह्यरूप है। मनुष्यत्व को ढूंढना हो तो हमें उसके सद्‌प्रयत्नों में उसे ढूंढना होगा। पर उसके वे प्रयत्न केवल बाह्य न होंगे, क्योंकि उनमें धोखा होना सम्भव है। आचार में मनुष्य के उन क्षेमकर प्रयत्नों की गणना है जो अन्तर्मुख हों। जगत में अधिकांश मनुष्य मानवता से बहिर्भूत हैं, चाहे वे कितने ही बड़े आचारी साधु नेता अथवा शास्त्र प्रणेता ही क्यों न हों यदि बहुत समीप जाकर उनका करें तो हमें निराशा के अतिरिक्त और

कुछ नहीं मिलेगा। यह मनुष्य का बुद्धिभ्रम है कि वह एकांत बाह्याचार को धर्म मानता है। पर अब यह इसका फैला हुआ अर्थ बन गया है और बहुत से मनुष्य इससे चिपटे पड़े हैं। एकान्त बाह्याचार में न वास्तविक श्रद्धा रहती है और न सच्चा ज्ञान। जो श्रद्धा और ज्ञान इस बाह्याचार में है उसे अन्ध विश्वास और अज्ञान कहते हैं। यह इतना निष्फल और असह्य हो जाता है कि इसे न मनुष्य का हृदय छूता है और न मस्तिष्क। तब फिर वह उसे क्यों करता है? इसका उत्तर है कि वह परम्परा का पुजारी है, गतानुगतिक है, रूढियों के विरोध में उठ कर वह क्यों नई आफत मोल ले? मलघट की तरह वह पापों से भरा पूरा रहने पर भी अपने बाह्याचार के बल पर दूसरों से अपने को ऊंचा समझता है, उनसे घृणा करता है। और इस तरह अभिमान के सिर पर बैठ कर वह अपने को भिन्न वर्गीय समझने की धृष्टता करता है। आचार तत्त्व में खाने पीने, नहाने धोने उठने बैठने आदि क्रियाओं का समावेश करना हो तो पहले इनका एकान्त आग्रह छोड़ना होगा। निराग्रह पूर्वक कायिक शुद्धि के लिये जहां तक इनकी आवश्यकता का सम्बन्ध है इन्हें स्वीकार किया जा सकता है। पर इन्हे आचार जैसा महामहिमाशाली नाम देना तो मुर्दे को जीवित कहने के बराबर है। इन बाह्यक्रियाओं से आचार में भी कभी सजीवता नहीं आती इसी लिये महावीर और बुद्ध ने स्थान स्थान पर इनकी निःसारता बतलाई है और कहा है कि हृदय को शुद्ध रखो, अहङ्कार को छोडो, समभाव को धारण करो, सहानुभूति, क्षमा, शान्ति, शम, दम आदि को जीवन में उतारो। यही आचार तत्व के मूलअवयव हैं।

सदाचार और धर्म में कोई भेद नहीं है। सदाचार से जीवन भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। सदाचार स्वय ही आध्यात्मिकता है। इससे जीवन में स्फूर्ति और चैतन्य आता है। कोई भी धर्म (सम्प्रदाय) तभी विजयी हो सकता है जब उसमें आचारवान मनुष्यों का बाहुल्य हो। भूतकाल में जो महात्मा हो गये हैं वे अपनी आचार निष्ठा के बल पर ही मानव को ठीक रास्ते पर लाने में सफल हो सके थे। हमें इसका ताजा उदाहरण देखना हो तो महात्मा गांधी के जीवन में देख सकते हैं।

आचार की तेजस्विता बातें बनाने से नहीं उन्हें जीवन में उतारने से आती है और वह तेजस्विता जब उत्पन्न हो जाती है तब तो ऐसे महात्माओं के पैरों में गिरकर सम्राट भी अपने को धन्य मानता है, किन्तु ऐसी तेजस्विता के जीवन में कदापि नहीं आती, आचार अथवा

आचरण के नाम से हमारे देश में आज भी जो कुछ प्रचलित है उसने मानव के उत्थान में बहुत बड़ी बाधा पहुंचाई है।

जीवन कला और धर्म

कला शब्द से मनुष्य बहुत परिचित है। नृत्यकला, गानकला, वाद्यकला, आदि शब्दों का प्रयोग हम बहुत बार करते हैं। पुरुष की बहत्तर और स्त्री की चौसठ कलाओं के बारे में भी हमने सुना है। किन्तु जीवनकला, मृत्युकला आदि शब्दों से हम परिचित नहीं हैं। यथार्थ यह है कि कोई सब कलाओं को जानकर भी यदि जीवनकला को न जाने, यानी अपने जीवन को कलामय न बनावे तो उसका सारा कलाज्ञान व्यर्थ है। वह उसके लिये भार स्वरूप है; क्योंकि किसी का जीवन कलामय तभी कहला सकता है जब उसके जीवन में धर्म उतरे।

हम कैसे जीवें, जीवन की उचित विधि क्या है, किस क्रम से जीने से हमारे जीवन की उपयोगिता है, आदि अनेक प्रश्न यदि हममें विवेक हो तो हमारे मन में जरूर उठेंगे। इसके उत्तर में ही जीवन कला की परिभाषा है।

धर्म बतलाता है कि हमें इस तरह जीने की आदत डालना चाहिए जिससे हमारे अन्त: करण में अशान्ति, क्षोभ, असन्तोष जैसी कोई चीज पैदा न हो। क्योंकि यह सब चीजें जीवन रस को नष्ट करने वाली हैं। जीवन रस वह वस्तु है जो आत्मा की खुराक बनकर उसको पोषण देता है। जगत में ऐसा क्यों होता है कि जीवन के सारे बाह्य साधनों को पाकर भी मनुष्य अपने आपको दु:खी कहता सुना जाता है? इसका कारण ढूंढना होगा। महाशासक को भी शान्ति नहीं है। कुबेरोपम विभूति का स्वामी भी सुख के लिये तड़प रहा है। सब कुछ होते हुए भी उनके पास क्या नहीं है जिससे उन्हें बेचैनी हो रही है, इस सारे विपर्यास का एक यही उत्तर है कि रंकों की तरह उन्हें भी अभाव सता रहे हैं। उनके पक्ष में इतना अधिक और है कि उनके अभाव मोटे, विशाल और बृहत्तम हैं। इससे उनके दु:ख का परिमाण भी बढ जाता है। जो अपनी व्यापक सन्तोष वृत्ति द्वारा सारे अभावों को नि:शेष करने की कला को नहीं जानता वह सुखी कैसे हो सकता है? जो जीने की कला पा लेता है वह राह का भिखारी होते हुये भी सुखी है। नहीं तो पृथ्वी का चक्रवर्ती, स्वर्ग का इन्द्र या और कोई भी हो, अशांत असन्तुष्ट क्षुब्ध एवं दु:खी ही रहेगा। इससे हमें इस परिणाम पर पहुँचना चाहिये कि कोई भी अपने को जीवन कला से ही सुखी

बना सकता है, बाह्य साधनों से नहीं और उसका अर्थ है जीवन में धर्म को उतारना।

कला अशिव को शिव और असुन्दर को सुन्दर बनाती है। अव्यवस्थित और विकीर्ण को व्यवस्थित और केन्द्रित करना ही कला का काम है। कला रसप्रवाहिनी होती है। जैसे हर एक गाना, हर एक बजाना और हर एक नाचना कला नहीं कहलाता वैसे प्रत्येक जीवन कलामय नहीं कहला सकता। गाना, बजाना और नाचना आदि को कलामय बनाने के लिये हमें इनमें रहने वाली अव्यवस्था, अक्रम एवं अनौचित्य को दूर करना पड़ता है। हमारे जिस प्रक्रम से इनमें रसोत्पादकता आये वही हम करते हैं। रसोत्पादकता की सफलता ही कला की सफलता है। जीवन के सम्बन्ध में भी यही बात है। यदि यह अव्यवस्थित, अनुचितोपयुक्त एवं रसहीन है तो उसमें कला का अभाव है। उसे कलामय बनाने के लिए उसकी यह बुराइयां दूर करनी होगी। हमें यह जानना चाहिये कि जीवन को रसहीन बनाने वाला असंयम है। असंयम दूर हो तो जीवन सुव्यवस्थित हो जाता है और उसके फलस्वरूप उसमें रसोत्पादकता आ जाती है।

यही तो जीवन की कलात्मकता है। जो विलासी हैं, विषयापेक्षी हैं और जगत की नानाविध एषणाओं के द्वारा सताये हुए हैं उनका जीवन कलामय नहीं है। अनित्य को नित्य और अपावन को पावन, दुःख को सुख और अस्व को स्व मानने के भ्रम में पड़ना जीवन की कलात्मकता को नष्ट करना है। इसी का दूसरा नाम अधर्म है।

एक सन्त कवि कहता है—

कला बहत्तर पुरुष की तामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार॥

इसमें कवि ने पुरुष की बहत्तर कलाओं का निचोड़ कह दिया है। इसका यही तात्पर्य है कि आत्मोद्धार (जीवन कला) बिना सब कलायें व्यर्थ हैं। चाहे कोई गृहवासी हो या वनवासी, कोई कैसी भी परिस्थिति में रहना क्यों न पसन्द करे; पर इस मूलभूत सत्य को न भूले कि जीवन की सार्थकता उसकी कलामयता में है। कलामय जीवन के लिये कोई वेश या विशेष प्रकार की स्थिति अपेक्षित नहीं है। वह तो जीवन शुद्धि है और उसे कोई भी पा सकता है, केवल अहिंसा सत्य और समभाव को अपने जीवन में उतारने की जरूरत है। पर इस संकेत को कभी नहीं भूलना चाहिये कि जीवन को कलामय बनाने के लिये एकान्त निवृत्ति की जरूरत नहीं है, क्यों कि कला तो प्रवृत्त्यात्मक है।

अहिंसा

धर्म का अहिंसा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, अत. यहां अहिंसा के सम्बन्ध में भी दो शब्द कहना आवश्यक हो गया है। जैनाचार में अहिंसा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जैन शास्त्रों में जप, तप, ध्यान, अनुष्ठान, भक्ति, पूजा, प्रार्थना आदि कोई भी कर्तव्य ऐसा नहीं बतलाया गया जिसमें अहिंसा का समादर न हुआ हो। जैन दर्शन के अनुसार धर्म का आत्मभूत लक्षण अहिंसा ही है। सच तो यह है कि कोई ऐसा मानव धर्म नहीं हो सकता जिसमें अहिंसा व्याप्त न हो। अहिंसा के बिना धर्म की कल्पना ही व्यर्थ है। वह तो धर्म का सर्वस्व है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने उसे ब्रह्म कहा है—"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।" चाहे श्रमण हो चाहे श्रावक प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि वह अहिंसा की मर्यादा में चले। श्रमण तो पूर्ण अहिंसक होता है। हिंसा की अल्पमात्रा भी उसके लिए क्षम्य नहीं है। न उसके भावों में हिंसा आनी चाहिए और न उनके वचनों अथवा कार्यों में। उसकी सारी प्रवृत्तियां अहिंसक होती हैं। श्रमण होने के कारण जो उत्तरदायित्व उस पर है वह अहिंसा से ही अनुप्राणित होता है। हिंसा तो श्रमणत्व की विपरीत दिशा है।

किन्तु जगत की बहुत बड़ी बड़ी जिम्मेवारियों को झेलता हुआ श्रावक भी अहिंसक रह सकता है। उसके जीवन में अहिंसा इतनी व्यावहारिक बन सकती है कि उसका कोई भी काम दुनियां में रुका नहीं रह सकता। सच तो यह है कि हिंसा और अहिंसा का ठीक स्वरूप समझ लेने के बाद न अहिंसा अव्यवहार्य जान पड़ेगी और न उसका अतिवाद ही होगा। श्रमण और श्रावक की मर्यादायें भिन्न भिन्न हैं। श्रावक अहिंसा का पालन अपनी मर्यादा में रह कर ही करता है। मर्यादा हीन अहिंसा उसके लिए अहिंसा का अतिवाद है। अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ने पर वह शक्ति का प्रयोग कर सकता है; पर वह उसका आपद् धर्म है। वह देवता, मन्त्र, धर्म, अतिथि एवं भोजन आदि किसी भी कार्य के लिए जीव हिंसा को प्रोत्साहन नहीं देता और न स्वयं जीव हिंसा करता है।

जैन शास्त्रों के अनुसार श्रावक खेती कर सकता है फिर भी वह हिंसक नहीं कहा जायगा। क्यों कि उसका अभिप्राय खेती करना है, जीवों की हिंसा करना नहीं। इसलिए कहा गया है कि "घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः।" अर्थात् खेती में अनिवार्य हिंसा होने पर भी किसान की अपेक्षा के तट पर मछली मारने के लिए बैठा

हुआ वह धीवर जिसके जाल में एक भी मछली नहीं आई है अधिक पापी है। कारण यह कि हिंसा और अहिंसा की व्याख्या भावों के साथ बंधी हुई है। क्रोध, काम, ईर्ष्या, मद, लोभ, दंभ आदि हिंसामय भावों से प्रेरित होकर जब मनुष्य किसी जीव की हिंसा करता है तभी वह हिंसक कहलाता है। जो श्रावक सदा युद्धों से बचता रहता है, संकल्पपूर्वक कभी किसी को नहीं मारता; जो अपने उद्योग और आरम्भों में जीवहिंसा के भय से यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है; किन्तु आततायी एवं आक्रमणकारियों को ठीक राह पर लाने के लिए जो बाध्य होकर शस्त्र भी उठा सकता है वह हिंसक कैसे कहा जा सकता है ?

जैन धर्म की अहिंसा पर कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि उसने देश को कायर बनाया; किन्तु यह चीज बिल्कुल गलत है। इतिहास पर नजर डालें तो हमें एक भी ऐसा उदाहरण उपलब्ध नहीं होगा कि अहिंसा के कारण देश कायर हुआ हो और उसी से वह पराधीन भी बना हो। देश की पराधीनता का कारण अहिंसा नहीं; किन्तु आपसी फूट, राष्ट्रीयता का न होना, देश में भावात्मक एकता का अभाव, अनेक प्रकार के अन्ध-विश्वास, भयंकर राजनीतिक भूलें आदि बीसों कारण हैं। अहिंसा का ख्याल कर किसी ने आक्रमणकारियों का सामना न किया हो ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

अहिंसा मनुष्य में सच्ची राष्ट्रीयता लाती है उसी से उसमें देश प्रेम उत्पन्न होता है। देश के लिए अपार कष्ट सहन करने की शक्ति अहिंसा के द्वारा ही उत्पन्न होती है। अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिससे जीवन की अनेक समस्याएं अनायास ही सुलझ सकती हैं। आज हिंसा के कारण संसार में भय और आशंका का वातावरण बना हुआ है। बड़े राष्ट्र एक दूसरे को पराजित करने के लिए प्रक्षेपणास्त्रों के संचय में लगे हुए हैं एवं इसी के भयंकर निर्माण में ही अपना कल्याण देखते हैं। नागासाकी और हिरोशिमा के विनाश के लिए डाले गये बमों से दो हजार गुणे अधिक शक्तिशाली प्रक्षेपणास्त्र आज बन चुके हैं। इस प्रकार के अस्त्रों के परीक्षणों से वायुमण्डल के विषाक्त हो जाने से सम्पूर्ण जगत के स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा हो गया है। जिस मानव पर जगत की रक्षा करने का उत्तरदायित्व है वह आज सृष्टि के विनाश के प्रयत्नों में लगा हुआ है इससे अधिक दुख की बात और क्या होगी इंगलैण्ड के नब्बे वर्ष के महान दार्शनिक

र्टेण्ड रसल जैसे विचार शील लोगों का कहना है कि इस महानाश से बचने के लिए सभी लोग मिलकर प्रयत्न करें एवं अणुपरीक्षणों को बन्द करने के लिए जो भी कदम उठाया जा सके अवश्य उठाया जाय। इसमें जरा भी शक नहीं है कि इस विभीषिकामय समय में भगवती अहिंसा ही मानव का उद्धार कर सकती है अतः उसे प्रभावक बनाने के लिए सभी का प्रयत्न होना चाहिए।

यहां आत्मा (जीव) कर्म सिद्धांत, धर्म और अहिंसा का संक्षिप्त विवेचन इसलिए किया गया है कि इसके सम्बन्ध में पाठकों को जैन मान्यताओं का कुछ परिचय मिल जाये। इस विवेचन के अध्ययन से पाठकों को यदि विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हो तो जैन वाङ्मय के ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए।

कृतज्ञता प्रकाशन

इस संकलन को साकार रूप ग्रहण करने में गंगापुर, (राजस्थान) राजकीय कालेज के प्राध्यापक डा० कमलचन्द सोगाणी एम. ए पी. एच डी. ने बहुत मदद की है; इसलिए उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

जैन संस्कृत कालेज, जयपुर,
भाद्रपद शु० ५ वि. सं. २०१६

चैनसुखदास

अभिमत

प्रस्तुत सग्रह को आचार्यजी ने अध्यायों में विभक्त किया है। एक एक विषय से संबंधित पद्य लेकर वे एक एक अध्याय के अन्तर्गत रख दिए गये हैं। सग्रह में उन्नीस अध्याय हैं, अन्तिम अध्याय में कई प्रकार के विषयों से सबंधित पद्य हैं। विभिन्न ग्रन्थों से पद्य चुन कर इस प्रकार रखे गये हैं, और यह प्रतीत होता है जैसे वास्तव में वे एक ही ग्रन्थ के पद्य हों। विषय का विवेचन क्रमबद्धरूप में प्रस्तुत हो गया है। यथा जीव और आत्मा, कर्म, गुणस्थान जैसे अध्यायों में संग्रहीत पद्यों को पढ़ कर गूढ़ दार्शनिक तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। जीव और आत्मा के सम्बन्ध में जैन दर्शन का अपना मौलिक दृष्टिकोण है और उसका स्पष्ट विवेचन अध्याय के संकलित पद्यों में मिल जाता है।

जैन सिद्धांत के अनुसार जीव स्वदेह परिमाण वाला है। (अध्याय २) जीवों के अनेक भेद हैं और उनको स्पष्ट करते हुए कई पद्य इस अध्याय में द्रष्टव्य हैं। जीव के तीन प्रकार हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। परमात्मा के दो भेद हैं–अरहंत और सिद्ध। शरीर एवं इन्द्रियों को जीव मानने वाला बहिरात्मा है और कर्मकलक विमुक्त आत्मा परमात्मा है। इसी प्रकार कर्म की गूढ़ गति को इस अध्याय में सरल ढंग से समझाया गयाहै।

संक्षेप में गूढ़ तत्त्वों को समझाना भारतीय मनीषी की अद्भुत विशेषता रही है और इस संकलन के पद्यों में उसकी झलक हमें मिलती है।

अर्हत् प्रवचन के उपदेश सभी के लिये समान रूप से आकर्षक हैं। सच्चा नागरिक बनना हर एक का प्रधान लक्ष्य है, समाज के लिए वह वांछनीय आदर्श है। श्रमण और श्रावक, साधु और गृहस्थ दोनों को ही यह महान् लक्ष्य प्राप्त करना है—निवृत्ति और प्रवृत्ति ये एक ही मार्ग के दो पहलू हैं। वे एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। दोनों के ही कर्तव्यों

का आदर्श इन 'वचनों' में मिल सकता है। दोनों वर्गों के लिए पालनीय उपदेश अनेक हैं—यथा 'चुगली, हंसी, कर्कश, परनिंदा और आत्म प्रशंसा रूप वचन को छोड़ कर स्वपर हितकारी वचनों को बोलते हुये मुनि के भाषा समिति होती है' (१४·५७)। मुनि और गृहस्थ सभी के लिए यह मान्य आदर्श है।

जैन साहित्य बहुत विशाल है, वह बहुत प्राचीन भी है। साधना और साहित्य की यह धारा अबाध गति से बहती चली आ रही है। आज भी यह प्रवाहित हो रही है। साहित्य में लोकमंगल की भावना का जैसा मिश्रण जैन साहित्य में मिलता है वैसा और उतनी मात्रा में अन्य संप्रदाय के साहित्यों में नहीं मिलता। दर्शन या साहित्य सभी प्रकार की कृतियों में उपदेश का तत्त्व जैन रचनाओं में अवश्य मिलता है और यह उचित भी है। विपश्चित पुरुष के मन को भी विषय चंचल कर देते है। तब सामान्य जनों का क्या कहना। जैन मनीषियों ने सामान्य जन या साधारण गृहस्थ को भी कभी नहीं छोड़ा। श्रावक के उद्धार की बात सदा उनके सामने प्रमुख रही है, किन्तु श्रमण और साधु के लिए कर्तव्यों का और भी गहन विचार किया गया है।

कुछ विद्वान कहते हैं कि इस उपदेश की प्रधानता के कारण जैन साहित्य में काव्य रस नहीं रह गया हैं, किन्तु यह दृष्टिकोण का अन्तर है। साहित्य का प्रधान उद्देश्य लोकमंगल है और उस दृष्टि से श्रेष्ठ विचारों की प्रेरणा देने वाला सब साहित्य श्रेष्ठ साहित्य है।

अर्हत् प्रवचन में श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी ने विशाल साहित्य से कुछ रत्न चुनकर एकत्रित किए हैं। इन रत्नों से भारत की श्रेष्ठ चिंतन धारा की एक झलक पाठक को मिलेगी। श्रेष्ठतम मूल्यों की ओर भारतीय मनीषियों का ध्यान सदा रहा है और वे मूल्य बहुत कुछ सब काल के लिए सत्य हैं—जब तक कि मनुष्य का साथ बुद्धि नहीं छोड़ती। जो 'वचन' संग्रहीत किये गये हैं वे समान रूप से सबके लिए उपयोगी हैं—यद्यपि वे जैन सम्प्रदाय में मान्य कृतियों से लिए गए है तथापि उनका स्वरूप और स्वर सार्वभौमिक है उदाहरण के लिए कुछ वाणियों को देख सकते हैं

पंच नमस्कार को ही लें। पंच नमस्कार जैनों के अनुसार सर्व प्रथम किया जाना चाहिए। ये पांच वंदनीय हैं—

अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और सर्व साधु, ये सभी वंदनीय है। उनमें अर्हन् मुख्य है, अतः सर्व प्रथम अर्हत् की वंदना की गई है। अर्हत् का लक्षण यह है।

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोर्हन् परमेश्वरः ॥

जो सर्वज्ञ है, रागद्वेष जीत चुका है, यथास्थित को यथास्थित रूप से जानता है, सभी द्वारा पूज्य है वह श्रेष्ठ देव अर्हन् है। प्राकृत पद्यों के सरल भावानुवाद ने इस कृति को सर्वजन सुगम बना दिया है। धर्म और दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन में इच्छुक विद्वान भी इससे लाभ उठायेंगे। इस पुस्तक से कुछ अंश हाईस्कूलों के लिए पाठ्यक्रम में रखे जाने चाहिए और जीवन में सार का अधिक प्रचार होना चाहिये. यह समझने में यह कृति सहायक सिद्ध होगी। पण्डितजी की इस उत्तम संग्रह के लिए मैं प्रशंसा करता हूं। 'गीता' 'धम्मपद' के समान इसमें नित्यपाठ की सामग्री संकलित है।

रामसिंह तोमर
अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, विश्व भारती
शांति निकेतन

अध्याय १

मंगल

[इस मंगल अध्याय में अपराजित मंत्र, उसका माहात्म्य और मंगल पाठ है। इसमें अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच परमेष्ठियों का स्वरूप बतलाया गया है। अरिहंत चार घातिकर्म-रहित जीवन्मुक्त आत्मा को, सिद्ध अष्टकर्म रहित संपूर्ण मुक्तात्मा को, आचार्य साधु संस्था के शासक तपस्वी को, उपाध्याय साधुओं के अध्यापक महा विद्वान मुनि को और साधु आत्मसाधना में निरत संयमी को कहते हैं]

अपराजित मंत्र और उसका महत्त्व

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमोआइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥

अरिहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

[इस मंत्र के अंतिम चरण में जो 'लोए' और 'सव्व' पद हैं वह व्याकरण के नियमानुसार अन्त्य दीपक होने के कारण प्रत्येक वाक्य के साथ लगाना चाहिये जैसे लोक में जितने अरिहन्त हैं उन सबको मेरा नमस्कार हो। ऐसा ही अर्थ आगे भी करना चाहिये।]

एसो पंच णमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥२॥

यह पंच नमस्कार मंत्र सारे पापों का नाश करने वाला और सब मंगलों में पहला मंगल है।

मंगल पाठ

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं सिद्धामंगलं साहू मंगलं
त्तो धम्मो मगल

चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥३॥

चार मंगल हैं:—अरिहंत मंगल हैं, सिद्ध मंगल हैं, साधु मंगल हैं, और केवलि (तीर्थंकर) प्रणीत धर्म मगल है।

चार लोक में उत्तम हैं :—अरिहंत उत्तम हैं, सिद्ध उत्तम हैं, साधु उत्तम हैं, और केवलि प्रणीत (तीर्थंकर कथित) धर्म उत्तम है।

मैं चार के शरण जाता हूँ :—अरिहन्तों के शरण जाता हूँ। सिद्धों के शरण जाता हूँ। साधुओं के शरण जाता हूँ। केवलि-प्रणीत धर्म के शरण जाता हूँ।

अरिहंतों का स्वरूप

णट्ठ चदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥१॥
इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो ।
तिहुवण भवणपईवो देउ मम उत्तमं बोहं ॥२॥

जिसके चार घातिकर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक (आत्म गुणों को घातने वाले)-महाविकार-नष्ट होगये हैं और इसके फलस्वरूप जिसके अनन्त दर्शन, अनन्तसुख, अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्य (शक्ति) ये चार अनन्तचतुष्टय उत्पन्न होगये हैं तथा जो निर्विकार शरीर में स्थित हैं वह शुद्धात्मा अरिहन्त कहलाते हैं वे मुमुक्षुओं के ध्यान करने योग्य हैं।

इस प्रकार यह चार घातिकर्मों से मुक्त आत्मा सशरीर होने पर भी जन्म, जरा आदि अठारह दोषों से रहित होता है। इसे ही दूसरे शब्दों में जीवन्मुक्त अथवा सदेह मुक्त आत्मा कहते हैं। यह तीन भवन के प्रकाश करने के लिये प्रदीप स्वरूप भगवान अरिहन्त मुझे उत्तम बोध दें।

(१) द्रव्य० ५० (२) भाव पा० १५०

सिद्धों का स्वरूप

णिव्वावइत्तु संसारमहग्गि परमणिव्वुदिजलेण ।
णिव्वादिसभावत्थो गदजाइजरामरणरोगो ॥३॥
जह कंचणमग्गिमयं मुच्चइ किट्टेण कलियाए च ।
तह कायबंधमुक्का अकाइया झाणजोएण ॥४॥

परम शांतिरूप जल से ससाररूप अग्नि को बुझाकर जो निर्वाणरूप अपने स्वभाव में स्थित होगये हैं। जिनके जन्म जरा एव मरण रूप रोग नहीं रहे हैं वे शरीर रहित मुक्तात्मा सिद्ध कहलाते हैं। जैसे आग में तपाया हुआ सोना किट्टिका (बहिरगमल) और कालिमा (अतरंगमल) से छूट जाता है उसी प्रकार ध्यान के द्वारा शरीर तथा द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणीयादि अष्ट कर्म रूप बहिरंगमल) एवं भावकर्म (रागद्वेषादि भाव रूप अंतरगमल) रहित होकर यह जीव, सिद्धात्मा बन जाता है। काय के बंधन से मुक्त हुए ये जीव अकायिक कहलाते हैं।

आचार्यों का स्वरूप

पंचाचारसमग्गा पचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥५॥
दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणीज्झेओ ॥६॥

जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार नामक पांच आचरणों से परिपूर्ण हैं, जो पचेन्द्रिय रूपी हाथियों के अभिमान को दलित करने वाले हैं, जो विकार के कारण उपस्थित होने पर भी विकृत नहीं होते और जो गुणों से गम्भीर हैं ऐसे तपस्वी आचार्य होते हैं। जो दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र और तपरूप आचरण में अपने आत्मा एवं दूसरों को लगाते हैं वह संघ के शासक मुनि आचार्य कहलाते हैं। वे ध्यान करने के योग्य हैं।

[ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, तप और शक्ति का यथार्थ उपयोग करना ही क्रमशः ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार कहलाता है]

(३ भग० आ० २१४४ (४ पच सं० १ ७ ५) नियम० ७३ (६ द्रव्य० ५-

उपाध्यायों का स्वरूप

रयणत्तयसजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उज्झाया एरिसा होंति ॥७॥
जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो ।
सो उज्झायो अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥८॥

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय से संयुक्त है। जो जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित पदार्थों के उपदेश देने में समर्थ हैं और जो किसी प्रकार की सांसारिक आकांक्षा से रहित हैं; और सदा धर्मोपदेश देने में निरत है वह यतियों में श्रेष्ठ आत्मा उपाध्याय है। उन्हें नमस्कार है।

साधुओं का स्वरूप

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥९॥
वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणा सया रत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥१०॥

जो दर्शन एवं ज्ञान से समग्र (पूर्ण) मोक्ष के मार्ग स्वरूप एवं नित्य शुद्ध चारित्र की साधना करते हैं, जो बाह्य व्यापारों से मुक्त हैं, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चार आराधनाओं में सदा लीन रहते हैं, जो परिग्रह रहित एवं निर्मोही हैं, वे साधु कहलाते हैं। उन्हें प्रणाम है।

आत्मा ही मेरा शरण है

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं ॥११॥

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी कहलाते हैं। ये सब आत्मा में ही रहते हैं; इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है

अध्याय २

जीव अथवा आत्मा

[सारे प्रयोजनों का आधार आत्मा है। उसीके जान लेने पर सब कुछ जाना हुआ कहलाता है। इसी लिए उसका नाम महार्थ (महान पदार्थ) है। जैन दर्शन में आत्मा का सूक्ष्म एवं तलस्पर्शी विवेचन किया गया है। इस अध्याय में आत्मा के प्रतिपादन की मूल्यवान गाथाओं का संग्रह है]

जीवा पोग्गलकाया धम्मा धम्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥१॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये तत्त्वार्थ कहे गये हैं। ये अनेक गुण और पर्यायों से संयुक्त हैं।

पुग्गलदव्वं मोत्तुं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि ।
चेदणभावो जीओ चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥२॥

इनमें पुद्गल द्रव्य मूर्त्त (रूप, रस, गंध और स्पर्शवाला) है शेष सब द्रव्य अमूर्त्त हैं। जीव चेतन भाव वाला और बाकी के सब द्रव्य चेतना गुण रहित हैं।

जीव का भिन्न अस्तित्व

जे आया से विन्नाया। जे विन्नाया से आया ।
जेण वियाणइ से आया। तं पडुच्च पडिसंखाए ॥३॥

जो आत्मा है वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है वह आत्मा है जिससे जाना जाता है वह आत्मा है। जानने की सामर्थ्य के द्वारा ही आत्मा की प्रतीति सिद्ध होती है।

जदि ण य हवेदि जीओ तो को वेदेदि सुक्खदुक्खाणि ।
इंदियविसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ॥४॥

अगर जीव न होता तो सुख दुःख का कौन अनुभव करता और

णविएहिं ज णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥५॥

जो नमस्कृतों के द्वारा नमस्कार किया जाता है, जो ध्यानाओं के द्वारा निरन्तर ध्याया जाता है और जो स्तुतों के द्वारा स्तवन किया जाता है, उस देहस्थ (आत्मा) को समझो।

संकप्पमओ जीओ सुहदुक्खमयं हवेइ संकप्पो ।
तं चिय वेयदि जीओ देहे मिलिदो वि सव्वत्था ॥६॥

जीव संकल्पमय होता है, संकल्प सुख दुःखात्मक है। देह मे मिला हुआ भी जीव ही सब जगह सुख दुःख का अनुभव करता है।

संबधो एदेसिं णायव्वो खीरणीरणाएण ।
एकत्तो मिलियाणं णियणियसब्भावजुत्ताणं ॥७॥

अपनी २ पृथक सत्ता सहित किन्तु एक होकर रहने वाले आत्मा और शरीर का सम्बन्ध 'नीरक्षीर विवेक न्याय' से समझना चाहिए अर्थात जैसे जल और दूध भिन्न २ होते हैं फिर भी मिल जाने से उनकी भिन्नता का भान नहीं होता वैसे ही आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है।

उत्तमगुणाणधामं सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परमतच्चं जीवं जाणेहि णिच्छयदो ॥८॥

उत्तम गुणों के आश्रय स्थान; सारे द्रव्यों में उत्तम द्रव्य और तत्वों में परम तत्व जीव (आत्मा) को निश्चय (यथार्थ रूप) से जानो।

अतरतच्चं जीवो बाहिरतच्चं हवंति सेसाणि ।
णाणविहीणं दव्वं हियाहियं णेय जाणादि ॥९॥

जीव अंतस्तत्व है और बाकी के सब द्रव्य बहिस्तत्व हैं। ज्ञान रहित द्रव्य-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-हिताहित को नहीं जानते, क्योंकि उनमें ज्ञान नहीं है।

(५) मोक्ष पा० १०३ (६) कार्तिके० १८४ (७) तत्व० २३ (८) कार्तिके० २०४
(९) कार्तिके० २०५

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१०॥

मैं आत्मा को इस प्रकार मानता हूँ कि वह ज्ञान प्राण, (ज्ञान स्वरूप) दर्शनमय, अतीन्द्रिय, महाअर्थ (महान् वस्तु), ध्रुव (नित्य), अचल (अपने स्वरूप में निश्चल रहने वाला), पर द्रव्यों की सहायता से रहित-स्वाधीन और शुद्ध है।

जीवो णाणसहावो जह अग्गी उह्णवो सहावेण ।
अत्थंतरभूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ॥११॥

जीव ज्ञान का आधार नहीं किन्तु ज्ञान स्वभाव वाला है। जैसे कि अग्नि उष्ण स्वभावात्मक है। अपने से सर्वथा भिन्न ज्ञान से आत्मा कभी ज्ञानी नहीं हो सकता।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१२॥

जीव रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, स्पर्श रहित, शब्द रहित, पुद्गल रूप लिङ्ग (हेतु) द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य, जिसके लिए किसी खास आकार का निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसा और चेतना गुण वाला है ऐसा जानो।

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणत्ति ॥१३॥

जीव उपयोगात्मक है। उपयोग का अर्थ है ज्ञान और दर्शन ज्ञानोपयोग भी दो प्रकार का है :—स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान।

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥१४॥
सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥१५॥

जो केवल अर्थात निरुपाधिरूप, इन्द्रियातीत और असहाय अथ प्रत्येक वस्तु में व्यापक है वह स्वभाव ज्ञान है, उसीका नाम केवल ज्ञान है

---

(१०) प्रवच० १०० (११) कार्तिके० १७८ (१२) प्रवच० २-८० (१३) नियम० १४ नियम० ११ (१५) नियम० १२

विभाव ज्ञान सज्ज्ञान और असज्ज्ञान के भेद से दो तरह का है। सज्ज्ञान चार प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। कुमति, कुश्रुत और कुअवधि के भेद से असज्ज्ञान तीन प्रकार का है।

[पांच इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का ज्ञान एवं सुख दुःख का ज्ञान। शब्दों को सुन कर जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह श्रुत ज्ञान कहलाता है। इन्द्रियों की सहायता के बिना जो परोक्ष पुद्गल (भौतिक पदार्थ) का ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान और दूसरे के मन में विचार रूप से आये हुए भौतिक पदार्थों का ज्ञान मनः पर्यय कहा जाता है। जब मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान सम्यक्त्व रहित आत्मा के होते हैं तब ये ही क्रम से कुमति, कुश्रुत और कुअवधि कहलाते हैं। मन: पर्ययज्ञान कुमन : पर्यय ज्ञान नहीं होता क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि के ही होता है, सम्यक्त्व रहित (मिथ्यात्वी) के नहीं।]

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिदियरहियं असहायं त सहावमिदि भणिदं ॥१६॥

इसी तरह दर्शनोपयोग के भी दो भेद हैं—स्वभाव दर्शनोपयोग और विभाव दर्शनोपयोग। जो इन्द्रिय रहित और असहाय है वह केवल-दर्शन स्वभावदर्शनोपयोग है।

[यह केवलदर्शनोपयोग अरिहंत और सिद्ध आत्माओं के ही होना है।]

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णिवि भणिदं विभावदिच्छित्ति ।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो व णिरवेक्खो ॥१७॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधि दर्शन ये तीनों विभाव दर्शनोपयोग हैं। पर्याय के भी दो भेद हैं—स्वपरापेक्ष और निरपेक्ष सिद्धपर्याय निरपेक्ष और नर नारकादि ससारी पर्याय स्वपरापेक्ष हैं क्योंकि इनमें स्व-आत्मा और परकर्म की अपेक्षा है।

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥१८॥

मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव ये जो जीव की चार पर्याय हैं वे विभाव पर्याय अर्थात कर्माधीन पर्याय हैं। तथा कर्मोपाधि विवर्जित जो सिद्ध (मुक्तात्मा) पर्याय है वह आत्मा की स्वभाव पर्याय है।

---

(१६) नियम० १३ १७ नियम० १४ ८ नियम० १५

मुक्त जीव

सिद्धा संसारत्था दुविहा जीवा जिरोहिं पण्णत्ता ।
असरीरा गांतचउट्ठयण्णिया णिव्वुदा सिद्धा ॥१९॥

सिद्ध (मुक्त) और संसारी इस प्रकार जीवों के दो भेद हैं। जो शरीर रहित, अनन्तचतुष्टय सहित तथा जिनकी कषाय एवं वासनायें नष्ट हो गई हैं, वे सिद्ध हैं।

णिद्दंडो णिद्द्वंद्वो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥२०॥

जो मन, वचन और कायरूप दण्ड अर्थात् योगों से रहित है; जो किसी भी प्रकार के संघर्ष से, अथवा शुभ और अशुभ के द्वंद्व से रहित है; जो बाह्य पदार्थों की सम्पूर्ण ममता से रहित है; जो शरीर रहित है; जिसे किसी प्रकार का आलंबन नहीं है; जो रागरहित, द्वेष रहित, मूढ़ता रहित और भय रहित है वही आत्मा (सिद्धात्मा) है।

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोस णिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥२१॥

जो सब प्रकार के परिग्रह से रहित है, जो राग रहित, तीन प्रकार की शल्य (माया, मिथ्यात्व और निदान-भोगासक्ति) रहित और संपूर्ण दोषों से निर्मुक्त है; जो निष्काम (वासना अथवा इच्छा रहित), निःक्रोध, निर्मान और निर्मद है, वही आत्मा (सिद्धात्मा) है।

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणओसयादिपज्जाया ।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ॥२२॥

वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये जीव के नहीं हैं। स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि पर्याय भी जीव की नहीं होतीं। नाना प्रकार की शारीरिक आकृतियां और शरीर के बंधन विशेष भी जीव (सिद्ध) के नहीं होते।

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥२३॥

(१९) वसु० श्रा० ११ (२०) नियम० ४३ (२१) नियम० ४४ (२२) नियम० ४५
(२३) मोक्ष पा० ६

जो मल रहित, शरीर मुक्त, अतीन्द्रिय, निःसंग, विशुद्धस्वरूप, परमेष्ठी, परमजिन, शिवंकर और शाश्वत है, वही आत्मा सिद्ध है।

संसारी और सिद्ध जीवों की समानता

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा ।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥२४॥

जैसे लोक के अग्रभाग में शरीर रहित, विनाश रहित, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा सिद्ध स्थित हैं, वैसे ही निश्चय दृष्टि से संसारी जीव भी समझना चाहिए।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लियजीवतारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥२५॥

जैसे जरा, मरण और जन्म से रहित एवं सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणों से अलंकृत सिद्ध जीव हैं, वैसे ही निश्चय दृष्टि से संसारी जीव भी हैं।

जीव का स्वदेह परिमाणत्व

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि ॥२६॥

जैसे दूध में डाली हुई पद्मरागमणि उसे अपने रंग से प्रकाशित कर देती है, वैसे ही देह में रहने वाला आत्मा भी अपनी देह मात्र को अपने रूप से प्रकाशित कर देता है अर्थात वह स्वदेह में ही व्यापक है देह के बाहर नहीं। इसीलिये जीव स्वदेह परिमाण वाला है।

जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व

कत्ता सुहासुहाणं कम्माणं फलभोयओ जम्हा ।
जीवो तप्फलभोया भोया सेसा ण कत्तारा ॥२७॥

जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता है, क्योंकि वही उनके फल का भोक्ता है। इसके अतिरिक्त कोई भी द्रव्य न कर्मों का भोक्ता है और न कर्त्ता।

---

(२४) नियम० ४८ (२५) नियम० ४७ (२६) पंचास्ति० ३३
(२७ वसु० श्रा० ३५

जीवो वि हवइ पावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं ।
जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो ॥२८॥

अत्यंत तीव्र कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ आदि) से परिणत जीव ही सदा 'पाप' कहलाता है और उपशम भाव (क्रोधादि कषायों की शांति) से संयुक्त जीव पुण्य ।

देह संयुक्त जीव की क्रियाये

देहमिलिदो वि पिच्छदि देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं ।
देहमिलिदो वि भुंजदि देहमिलिदो वि गच्छेई ॥२९॥

देह से संयुक्त यह जीव आंख से नाना प्रकार के रंगों को देखता है, कानों से नाना प्रकार के शब्दों को सुनता है, जीभ से नाना प्रकार के भोजनों का आस्वाद लेता है और देह मिलित होकर ही इधर उधर चलता है ।

इन्द्रियों की अपेक्षा जीवों के भेद

एइंदियस्स फुसणं एक्कं चिय होइ सेसजीवाणं ।
एयाहिया य तत्तो जिब्भाघाणक्खिसोत्ताइं ॥३०॥

एकेन्द्रिय जीव के केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है बाकी के जीवों के क्रमशःजीभ, नाक, आंख और कान इस प्रकार एक एक इन्द्रिय अधिक होती है ।

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया ।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥३१॥

अंडों में बढ़ते हुए प्राणी, गर्भस्थ मनुष्य और मूर्च्छित लोग जैसे होते हैं वैसे ही बुद्धि के व्यापार रहित एकेन्द्रिय जीव होते हैं ।

संबुक्कमादुवाहासंखा सिप्पी अपादगा य किमी ।
जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा ॥३२॥

शबूक, मातृवाह, शंख, सीपी और बिना पैरों के कीडे जो केवल रस और स्पर्श को ही जानते हैं दो इन्द्रियों वाले जीव हैं ।

(२८) कार्तिके० १९० (२९) कार्तिके० १८६ (३०) पंच० सं० १-६७
(३१ पचास्ति० ११३ ३२ पचास्ति० ११४

जूगागुंभीमक्कणपिपीलियाविच्छयादिया कीडा ।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ॥३३॥

जूं, कुंभी, खटमल, चिंउटी और बिच्छू आदि कीडे स्पर्शन, रसन और घ्राण इन तीन इन्द्रियों वाले हैं; और वे इन इन्द्रियों से क्रमशः स्पर्श, रस और गंध को जानते हैं।

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरिभमरापतंगमादीया ।
रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति ॥३४॥

डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भवरा और पतंगे आदि जीव स्पर्श, रस, गंध और रूप को भी जानते हैं।

सुरणरणारयतिरिया-वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू ।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा ॥३५॥

देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच जलचर, स्थलचर और आकाशचारी जीव वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द को जानने वाले हैं; इसलिए ये पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। ये अन्य जीवों की अपेक्षा बलवान होते हैं।

अध्यात्म भाषा की अपेक्षा जीवों के भेद

जीवा हवंति तिविहा बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य ॥३६॥

जीव तीन प्रकार के हैं:—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। परमात्मा के दो भेद हैं:—एक अरहंत और दूसरे सिद्ध।

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥३७॥

भगवान ने कहा है कि बहिरात्मापने को छोड़ कर तथा अंतरात्मा बन कर मन, वचन और काय से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए अर्थात् उसी की प्राप्ति अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहिये।

---

(३३) पंचास्ति० ११५ (३४) पंचास्ति० ११६ (३५) पंचास्ति० ११
(३६) कार्तिके० १९२ (३७ मोक्ष पा० ७

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो दु हेऊणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥३८॥

इन तीनों आत्माओं में बहिरात्मा बिल्कुल छोड़ देने के योग्य है और अंतरात्मा परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधन है तथा परमात्मा साध्य है; इसलिए साध्य और साधन की ओर ही ध्यान देना चाहिए बहिरात्मा की ओर नहीं।

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भज्जए देवो ॥३९॥

इन्द्रियों में आसक्ति बहिरात्मा है और आत्म-संकल्प अर्थात कर्म, रागद्वेष-मोहादि परिणाम रहित यह आत्मा मेरे शरीर में रहता है जो शरीर से भिन्न है इस प्रकार का विवेक अंतरात्मा है तथा कर्म कलक विमुक्त आत्मा परमात्मदेव कहलाता है।

बहिरात्मा का स्वरूप

देहमिलिदो वि जीवो सव्वकम्मापि कुव्वदे जह्मा ।
तह्मा पयट्टमाणो एयत्तं बुज्झदे दोह्णं ॥४०॥

क्योंकि देह से मिला हुआ ही आत्मा सारे काम करता है; इसलिए किसी भी कार्य में प्रवर्त्तमान यह आत्मा (बहिरात्मा) दोनों में एकत्व का भान करता है।

राओहं भिच्चोहं सिट्ठिहं चेव दुब्बलो बलिओ ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोह्णं भेयं ण बुज्झेदि ॥४१॥

मैं राजा हूँ, मैं नौकर हूँ, मैं सेठ हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं बलवान हूँ, इस प्रकार शरीर और आत्मा के एकत्व से आविष्ट यह जीव दोनों के भेद को नहीं समझता।

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥४२॥

बहिरात्मा अपने स्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों

---

(३८) मोक्ष पा० ४ (३९) मोक्ष पा० ५ (४०) कार्तिके० १८!
४१) कार्तिके० १८७ (४२ मोक्ष पा० ८

में स्फुरित होता हुआ (घूमता हुआ) अपने शरीर को ही आत्मा मानने का अध्यवसाय (संकल्प) करता है।

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाण ।
सुयदाराईविसए मगुयाणं वड्ढए मोहो ॥४३॥

जिन्होंने आत्म तत्त्व को नहीं समझा ऐसे मनुष्यों का शरीर और सुत दारादि के विषय में स्वपराध्यवसाय (यह मेरा है और वह दूसरे का इस प्रकार का संकल्प) के कारण मोह (आसक्ति) बढ़ जाता है।

मिच्छत्तपरिणदप्पा तिव्वकसाएण सुट्ठुआविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥४४॥

मिथ्यात्व रूप परिणमन करने वाला आत्मा तीव्र कषाय (क्रोधादि) से अत्यंत आविष्ट होकर जीव और देह को एक मानने लगता है और इसीलिये वह बहिरात्मा है।

[इस बहिरात्मा के तीन भेद हैं:—मिथ्यात्व गुणस्थान वाला तीव्र बहिरात्मा, सासादन गुणस्थान वाला मध्यम बहिरात्मा और सम्यक्मिथ्यात्व गुणस्थान वाला जीत्र मंद बहिरात्मा है।]

अन्तरात्मा का स्वरूप और भेद

जे जिणवयणे कुसला भेदं जाणंति जीवदेहाणं ।
णिज्जिय दुट्ठट्ठमया अंतरअप्पा य ते तिविहा ॥४५॥

जो जिनवचन समझने में कुशल हैं तथा देह और आत्मा का भेद समझते हैं, जिन्होंने आठ प्रकार के दुष्ट मदों को जीत लिया है वे अन्तरात्मा हैं और उनके तीन भेद हैं।

अविरयसम्मद्दिठी होंति जहण्णा जिणदपयभत्ता ।
अप्पाणं णिंदता गुणगहणे सुट्ठु अणुरत्ता ॥४६॥

जो अविरत सम्यग्दृष्टि अर्थात चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि आत्मा है, जो जिन भगवान के चरणों के भक्त हैं, जो अपनी कमियों को बुराई के रूप में अनुभव करते हैं और जो गुणों के ग्रहण में अच्छी तरह अनुरक्त हैं वे जघन्य अन्तरात्मा हैं।

---

(४३) मोक्ष पा० १०   (४४) कार्तिके० १९३   (४५) कार्तिके० १९४
४६) कार्तिके० १९७

सावयगुणेहि जुत्ता पमत्ताविरदा य मज्झिमा होंति ।
जिणवयणे अणुरत्ता उवसमसीला महासत्ता ॥४७॥

श्रावक के गुणों कर सहित अर्थात् अणुव्रती तथा प्रमत्तविरत अर्थात गृहत्यागी छट्ठे गुणस्थान वाले साधक मध्यम अंतरात्मा हैं। ये जिन वचन में अनुरक्त, उपशम शील और महासत्त्व अर्थात परिषह और उपसर्गों से विचलित न होने वाले होते हैं।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिराभावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥४८॥

ज्ञान और दर्शन ही जिसका आत्मभूत लक्षण है ऐसा केवल मेरा आत्मा ही शाश्वत है। अवशिष्ट सारे बाह्य पदार्थ संयोग लक्षण वाले हैं अर्थात शाश्वत नहीं हैं।

आदा खु मज्झणाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पंचक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥४९॥

मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन और चरित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान (त्याग) में आत्मा है और मेरे संवर तथा योग में आत्मा है अर्थात ये सभी आत्मस्वरूप हैं।

पंचमहव्वयजुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिया णिच्चं ।
णिज्जिय सयल पमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥५०॥

जो पंचमहाव्रत सहित हैं, जो धर्म एवं शुक्लध्यान में सदा स्थित रहते हैं और जिन्होंने सारे प्रमादों पर विजय पा ली है वे उत्कृष्ट अंतरात्मा हैं।

परमात्मा का स्वरूप और भेद

ससरीरा अरहंता केवलणाणेण मुणियसयलत्था ।
णाणसरीरासिद्धा सव्वुत्तमसुक्खसंपत्ता ॥५१॥

जो शरीर सहित हैं, किन्तु केवलज्ञान से जिन्होंने सारे पदार्थों को जान लिया है वे अरहंत परमात्मा हैं और जिनका ज्ञान ही शरीर है, जो सर्वोत्तम अतीन्द्रिय सुख की संपदा सहित हैं वे सिद्ध परमात्मा हैं।

(४७ कार्तिके० १९६ ४८) भाव पा० ५६ (४९) भाव पा० ५८
(५० कार्तिके० १९५ ५१ कार्तिके० १९८

आत्मा का आदर्श चिंतन

रयणत्तयसंजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।
संसारं तरइ जदो रयणत्तयदिव्वणावाए ॥५२॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय सहित आत्मा ही उत्तम तीर्थ होता है; क्योंकि ऐसा आत्मा ही रत्नत्रयरूप दिव्य नाव से संसार के पार पहुंच सकता है।

से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे—
बंधपमुक्खो अज्झत्थेव ॥५३॥

मैंने सुना है और अनुभव भी किया है कि बन्ध और मोक्ष आत्मा ही है।

जस्स ण कोहो माणो मायालोहो य सल्ललेसाओ ।
जाइजरामरणं वि य णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥५४॥

जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य (मिथ्यात्व और आसक्ति आदि आत्मा के कांटे) हैं, न लेश्या (रागादि सहित मन वचन और काय की प्रवृत्ति) है और न जन्म, जरा तथा मरण है तथा जो निरंजन (कर्म कालिमा रहित) है वही मैं हूं।

फासरसरूवगंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो ।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥५५॥

स्पर्श, रस, रूप और गंध तथा शब्दादि पुद्गल पर्यायें जिसके नहीं होतीं ; जो शुद्ध चेतन स्वरूप और निरंजन है वह मैं हूँ।

सयल वियप्पे थक्के उप्पज्जइ को वि सासओ भावो ।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो हु ॥५६॥

संपूर्ण विकल्पों के थम जाने पर जो कोई शाश्वत भाव उत्पन्न होत है वही आत्मा का स्वभाव है और वही निश्चय से मोक्ष का कारण है।

---

(५२) कार्तिके० १९१ (५३) आचारा० सू० ५ २२ (५४) तत्व० १
(५५) तत्व० २१ (५६) तत्व० ६१

अध्याय ३

कर्म

[इस अध्याय में कर्म के स्वरूप, उसकी नाना अवस्थायें, उसके कारण और उसके विनाश आदि का संक्षेप में वर्णन है]

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गिण्हिऊण काउडियं।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकाउडियं ॥१॥

जैसे कोई भार ढोने वाला पुरुष कावड़ के द्वारा भार ढोता है वैसे ही यह जीव काय रूपी कावड़ के द्वारा कर्मरूपी बोझे को ढोता है।

जीव और कर्म के संबंध की अनादिता

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो ।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥२॥

जीव और शरीर का अनादि सम्बन्ध प्रकृति कहलाता है। उसे शील और स्वभाव भी कह सकते हैं। ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे सुवर्ण पाषाण में मल का अनादि सम्बन्ध है इसी तरह जीव और शरीर का सम्बंध भी अनादि है। ये दोनों किसी के बनाये हुए नहीं अपितु स्वयं सिद्ध हैं।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥३॥

आत्मा जिस भाव को करता है उस भावरूप कर्म का वह कर्त्ता होता है। ज्ञानी आत्मा का वह भाव ज्ञानमय और अज्ञानी आत्मा का अज्ञानमय होता है।

पुद्गलों का कर्मरूप परिणमन

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सयं पुग्गलं दव्वं ॥४॥

आत्मा जिस भाव को उत्पन्न करता है उस भाव का वह कर्त्ता

---

(१) पंच सं. १-७६ (२) गो० कर्म० १ (३) समय० १२६ (४) समय० ९१